(१) श्रवण

ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण, मनन आदि साधनों की उपयोगिता निर्विवाद है। इस सम्बन्ध में वेदान्तसार की विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है जो निम्नलिखित है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥[1]

अर्थात् श्रुतिवाक्यों के द्वारा ब्रह्म के विषय में श्रवण करना चाहिए, श्रवण की गई वस्तु का उपपत्तिपूर्वक मनन करना चाहिए और मनन करने के पश्चात् उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा करने पर ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव है। वेदान्त वाक्यों को श्रवण करने की इच्छा से जब कोई साधक किसी सद्गुरु की शरण में जाकर उससे 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों का श्रवण कर उनका छह प्रकार के लिङ्गों के द्वारा परब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण करता है तब श्रवण कहा जाता है।[2] वस्तुतः ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए किसी सद्गुरु की शरण में जाना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि गुरु की कृपा से ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सम्भव है।[3] श्रीमद्-भगवद्गीता में भी साधकों के लिए सुझाव दिया गया है कि उन्हें तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों की शरण में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[4] ब्रह्मविद्या का ज्ञान ऐसे सद्गुरु के द्वारा ही दिया जा सकता है जिसने वेदाध्ययन, तप, समाधि एवं ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। जो स्वयं अन्धकार में है वह दूसरे का मार्गदर्शन नहीं कर सकता। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यदि किसी घटिया (अवर) गुरु के द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जाता है तो उस उपदेश पर बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी सफलता नहीं मिलती है।[5] इसीलिए शंकराचार्य का कथन है कि जो सम्यक् द्रष्टा आचार्य हैं उनके द्वारा दिया गया उपदेश (ज्ञान) कार्यक्षम होता है।[6]

---

१. वेदान्तसार (विद्वन्मनोरञ्जनी), पृष्ठ ८३ पर उद्धृत।

२. श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।
—वेदान्तसार, खण्ड ३०

३. द्रष्टव्य—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।६ पर शाङ्करभाष्य।

४. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता, ४।३४

५. न नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयः बहुधा चिन्त्यमानः। —कठोपनिषद्, १।२।८

६. ये हि सम्यग्दर्शिनस्तैरुपदिष्टं ज्ञानं कार्यक्षमं भवति नेतरत्।
—श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य), ४।३४

Scanned with CamScanner

इस सम्बन्ध में श्री एम० के० आर० अय्यर महोदय लिखते हैं—"वही गुरु शिष्यों को ज्ञान देने में समर्थ होता है जिसने सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसके द्वारा दिया गया ज्ञान शिष्य को प्रभावित कर सकता है। यह सत्य आध्यात्मिक होता है, इसे 'तत्त्वमसि' के द्वारा जाना जा सकता है।"[1] अतः सद्गुरु के द्वारा दिया गया उपदेश तात्पर्यावधारण में शिष्य का मार्गनिर्देश करता है।

वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का निर्धारण करने में षड्विधलिङ्गों का विशेष महत्त्व है। 'लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्' इस व्युपत्ति के आधार पर लीन अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकरूपता रूपी छिपे हुए अर्थ का बोध कराने के कारण उपक्रम-उपसंहार तथा अभ्यास आदि को लिङ्ग कहा जाता है। वेदान्तसार में उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति के रूप में षड्विधलिङ्गों का उल्लेख मिलता है।[2] वेदान्तसार की सुबोधिनी टीका में षड्विधलिङ्गों के सम्बन्ध में एक श्लोक उद्धृत किया गया है जो निम्नलिखित है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥[3]

उपर्युक्त षड्विधलिङ्ग वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण माने गये हैं।

प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के आदि तथा अन्त में प्रतिपादन करना क्रमशः उपक्रम और उपसंहार कहे जाते हैं। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्'[4] के द्वारा आदि में तथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'[5] के रूप में अन्त में प्रतिपादन करना क्रमशः उपक्रम और उपसंहार कहे जाते हैं। प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु का पौनः पुन्य से प्रतिपादन

---

1. The teacher cannot successfully discharge the very responsible work unless he is himself the living embodiment of the truth that he is seeking to instruct in the minds of his disciples. The instruction imparted by such a teacher will possess mystical power and stir the student to his inmost depths. It will bring about a spiritual regeneration in him.
—Advaita Vedanta. p. 173

२. वेदान्तसार, खण्ड ३०
३. वेदान्तसार (सुबोधिनी), पृष्ठ ४२
४. छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।१
५. वही, ६।८।७

Scanned with CamScanner

करना अभ्यास कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में ही अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में नौ बार 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन किया गया है। अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का दूसरे प्रमाणों का विषय न होना अपूर्वता है। जैसे वहीं पर प्रमाणान्तर से अद्वितीय वस्तु को विषय नहीं बनाया गया है। फल उसे कहा जाता है जहाँ प्रकरण प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा उसके अनुष्ठान का वहाँ सुना गया प्रयोजन है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—"आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।"[1] उपर्युक्त सन्दर्भ में ब्रह्मज्ञान का ब्रह्मप्राप्ति के रूप में प्रयोजन वर्णित किया गया है। प्रकरण-प्रतिपाद्य-विषय की स्थान-स्थान पर प्रशंसा करना अर्थवाद कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।"[2] के द्वारा अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है यही अर्थवाद है। अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए दी गई युक्ति को उपपत्ति कहा जाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"[3] ऊपर वर्णित षड्विधलिङ्गों के द्वारा अद्वितीय वस्तु के रूप में तात्पर्य अवधारण करना श्रवण कहा जाता है।

(२) मनन

सदानन्द ने मनन की परिभाषा देते हुए लिखा है—"मननं तु श्रुतस्याद्वितीय-वस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।"[4] श्रवण की गई अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा चिन्तन करना मनन कहा जाता है। विद्यारण्य के अनुसार युक्तिपूर्वक संभावित वस्तु का अनुसन्धान करना मनन कहा जाता है।[5] उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने के लिए मनुस्मृति से निम्नलिखित श्लोक उदाहृत किया जा सकता है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥[6]

अर्थात् जो व्यक्ति वेदशास्त्रों के अनुकूल अविरोधी तर्कों से ऋषियों के द्वारा दिये गये उपदेश और शास्त्र का अनुसन्धान करता है, वही धर्म के यथार्थ स्वरूप को

---

१. वही, ६।१४।२
२. छान्दोग्योपनिषद्, ६।१।३
३. वही, ६।१।४
४. वेदान्तसार, खण्ड ३०
५. युक्त्या संभावितानुसन्धानं मननं तु तत्। —पञ्चदशी, १।५३
६. मनुस्मृति, १२।१०६

Scanned with CamScanner

जानता है, अन्य व्यक्ति नहीं। ऊपर जो 'धर्म' पद प्रयुक्त हुआ है वह ब्रह्म का उपलक्षक है क्योंकि ब्रह्म ही सर्वाधिष्ठान है तथा 'धारणाद् धर्मः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भी ब्रह्म को धर्म कहा जा सकता है। अतः श्रुत्यनुकूल तर्कों को ब्रह्म-ज्ञान में उपयोगी माना गया है।

(३) निदिध्यासन

सदानन्द ने निदिध्यासन का निरूपण करते हुए लिखा है—"विजातीयदेहादि प्रत्ययरहिताऽद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।"[1] अर्थात् विजातीय शरीर आदि के विचारों से रहित तथा अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के विषय में सजातीय विचारधारा का प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है। आत्मतत्त्व चैतन्यरूप है, इससे भिन्न जगत् के सभी पदार्थ जड़ हैं। अतएव सभी अनात्म पदार्थ विजातीय हैं। उनसे हमें जो प्रतीति होती है वह आत्मत्व की प्रतीति के अनुकूल न होने से विजातीय है। इस प्रकार की सभी विजातीय प्रतीतियों का परित्याग कर आत्मा के अनुकूल सजातीय प्रतीतियों को तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना निदिध्यासन है।

विद्यारण्य ने निदिध्यासन की परिभाषा देते हुए लिखा है—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥[2]

अर्थात् श्रवण और मनन के द्वारा जब आत्मा के विषय में सब प्रकार के सन्देह दूर कर दिये जाएं तब आत्मा में स्थापित किये गये चित्त की एकतानता अर्थात् चित्त में सजातीय वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि चित्त का सजातीय प्रतीतियों में तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने का नाम निदिध्यासन है।

(४) समाधि

सामान्यतः चित्त की एकाग्रता को समाधि कहा जाता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनः यत्र स समाधिः।' अर्थात् विक्षेपों का परिहार करने पर जब मन एकाग्र हो जाता है तब-तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है। वेदान्तसार के टीकाकार नृसिंह सरस्वती का कथन है कि व्युत्थान संस्कार का अभिभव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होने पर चित्त का जो एकाग्रतारूप परिणाम होता है उसे समाधि

---

१. वेदान्तसार, खण्ड ३०

२. पञ्चदशी, १।५४

Scanned with CamScanner